

## बच्चों के पक्ष में ...

□ विश्वंभर

**य**ह नई बात नहीं है कि बच्चे की सीखने की प्रक्रिया, बच्चों को क्या व कैसे सिखाया जाए जैसे प्रश्न शिक्षाविदों के लिए विचारणीय रहे हैं। यह भी हम जानते हैं कि स्कूली शिक्षा में बच्चों को वह सब नहीं सिखाया जा सकता जो 'ज्ञान' और 'जानकारी' के रूप में मानवीय समाज ने संग्रहीत किया है। बच्चे की सीखने की प्रक्रिया (ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया) जन्म के साथ आरम्भ होती है और जीवनपर्यन्त चलती है। इन सीधे-सादे निष्कर्षों के बीच यह तय करना कि स्कूली पाठ्यचर्या में क्या-क्या शामिल किया जाए शिक्षाविदों के सम्मुख चुनौती है।

'सूचना या ज्ञान विस्फोट' के इस दौर में - जहां हर प्रकार का 'ज्ञान' उपलब्ध है, वैज्ञानिक-तार्किक ज्ञान के साथ ही अवैज्ञानिक-अतार्किक ज्ञान भी- राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 ने इस बहस को एक बार फिर पुरजोर खोला है। इस मामले में राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 ज्यादा मानवीय नजर आती है, जहां बच्चों के अनुभवों एवं उनकी सक्रिय भागीदारी को महत्ता दी गई है तथा शिक्षा को अर्थात् सीखने को अपने आप में सक्रिय व सामाजिक गतिविधि के रूप में देखा गया है। यह पाठ्यचर्या सामाजिक यथार्थ से टकराती शिक्षायी आदर्शों को हमारे सम्मुख रखती है और आशा की किरण के रूप में आती है। ये आदर्श बच्चे की स्वायत्ता, रचनात्मकता, सीखने की सहज इच्छा, उत्सुकता आदि को हमारे बीच रखती है जो किसी भी प्रकार से बच्चे की आत्म-अस्मिता एवं मानवीय गरिमा के लिए आवश्यक है।

बच्चों पर सूचनाओं के बोझ की बात यशपाल समिति की रिपोर्ट में भी उठाई गई और कहा गया कि 'स्कूलों में अधिक पढ़ाई कराई जाती है और बच्चे बहुत थोड़ा सीखते और समझते हैं' तथा 'सूचनाओं को ज्ञान समझ लिया जाता है'। स्पष्टतः यहां तोतारटंत की ऐसी परिपाटी का नकार था, जो हमारी स्कूली शिक्षा पद्धति का चरित्र है, जिसका जीवन में किसी भी प्रकार का महत्त्व परीक्षा के बाद नहीं बचता। यही समस्या राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 में उठाई गई है। 'सूचना को ज्ञान से अलग करके देखने की जरूरत है और बच्चों को ज्ञान सृजन में सक्षम बनाया जाए'। बच्चे द्वारा घर एवं सामुदायिक परिवेश से अर्जित ज्ञान को स्कूल में सम्मानजनक स्थान मिले। शायद इस बहस में चिन्ता यह भी है कि जो कुछ भी सिखाया जा रहा है उससे व्यक्ति में चरित्रगत बदलाव नहीं आ रहे हैं या सोचने-समझने के तरीकों में बदलाव नहीं आ रहा है।

शिक्षाकर्म में रत व्यक्ति के लिए ऐसे में यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आखिर ज्ञान और जानकारी में भेद क्या है ? प्रो. भटनागर का लेख (जो मूलतः व्याख्यान है और शिक्षा विमर्श की व्याख्यान श्रृंखला में दिया गया था।) ज्ञान और जानकारी के भेद को केन्द्र में रखते हुए बताता है कि किन्हीं तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में जानकारी हमारे सम्मुख आती है और एकाधिक जानकारीयों में परस्पर संबंध हो यह आवश्यक नहीं। जानकारी स्मृति प्रधान होती है लेकिन वहीं ज्ञान में जानकारीयों के बीच संबंध देख पाना, कार्य-कारण संबंध को समझ पाना तथा समीक्षा प्रमुख होती हैं। पाठ्यपुस्तक केन्द्रित शिक्षा

व्यवस्था में ज्ञान का जो अपरिवर्तनीय और शाश्वत रूप दिखाई देता है वह ज्ञान के इतिहास में झांकने पर सत्य साबित नहीं होता। चाहे फिर यह इतिहास विज्ञान का हो या फिर अन्य विषय क्षेत्रों का। इन पदों के अर्थ को संदर्भ के साथ समझे जाने की भी आवश्यकता की ओर हमारा ध्यान खींचता है। राष्ट्रवादी आन्दोलन और राष्ट्रवादी शिक्षा में जवरीमल्ल पारख हमारे प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह की ब्रिटेन यात्रा के दौरान दिए गए वक्तव्य कि 'ब्रिटेन ने भारत का परिचय आधुनिक शिक्षा एवं अंग्रेजी से कराया' को संदर्भ बनाकर प्राक्-औपनिवेशिक और औपनिवेशिक भारत की शिक्षायी स्थितियों एवं विचारों का इतिवृत्त प्रस्तुत करते हैं। यहां ध्यान देने योग्य बात है कि औपनिवेशिक भारत में राष्ट्रीय चिन्तकों के विचारों में एकरूपता नहीं थी। दलित एवं पिछड़ी जातियों के विचारक सभी तक शिक्षा की पहुंच के लिए प्रयासरत थे और उनकी मान्यता थी कि शिक्षा उन्हें समाज में समतापूर्ण स्थितियां उपलब्ध करवा पाएगी। तो अन्य विचारक राष्ट्रीय चुनौतियों मध्य ऐसी शिक्षा व्यवस्था की कल्पना में जुटे थे जो स्वाधीन भारत में विकास एवं प्रगति के लिए आवश्यक होगी।

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' 1914 में लिखे लेख में शिक्षा के प्रचलित आदर्शों में बदलाव की मांग कर रहे थे। जिन आदर्शों में परिवर्तन की मांग की जा रही थी वे थे - बच्चे को निष्क्रिय ग्रहणकर्ता समझना, सिर्फ गुरु को ज्ञानदाता समझना, बच्चे को खाली बर्तन समझना, ज्ञान हस्तांतरण की प्रक्रिया में डंड का अनिवार्य स्थान तथा खेल को व्यर्थ की गतिविधि मानना आदि। यदि हम स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान इस लेख के महत्त्व को देखें तो सहज ही पता चलेगा कि उस समय सिर्फ राजनैतिक मुक्ति के सवालों पर ही चर्चा नहीं हो रही थी बल्कि इसके बरक्स ऐसे सवालों से भी हमारा समाज एवं विचारक जूझ रहे थे कि ये बदलाव अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं में भी होने चाहिए। प्रेमचन्द उसी दौर में बच्चों को परिवारों में स्वाधीन बनाने की मांग कर रहे थे और यह मांग उसी जनतंत्र का हिस्सा थी जो राजनैतिक रूप से स्वाधीन राष्ट्र के लिए की जा रही थी। साथ ही यह उस समय में फैली मूल्य चेतना का भी विरोध था जिसे अंग्रेज शासक वर्ग भारतीय समाज पर लाद रहा था कि हिन्दुस्तानी जाहिल और गंवार हैं इन्हें सभ्यता का पाठ पढ़ाने की जिम्मेदारी ब्रिटिश शासकों की है।

रवीन्द्रनाथ की मेरी शिक्षा में सीखने की सहज-सरल सी लगने वाली प्रक्रिया को उसकी जटिलता के साथ खोलता है। यह संभव है कि हमें लगे कि बच्चे को बहुत कुछ सिखाने का प्रयोग हम कर रहे हों लेकिन एक बच्चा उस प्रक्रिया में कैसा महसूस करता है? क्या से उसके लिए उतनी ही सारगर्भित है जितनी मानी जाती है? लेकिन दूसरे छोर पर रवीन्द्रनाथ का संपूर्ण जीवन हमारे सामने यह भी प्रस्तुत करता है कि किसी समय में निरर्थक सी लगने वाली चीजें भी कहीं हमारे अनुभव संसार को अवचेतन में समृद्ध करती रहती हैं।

चन्द्रप्रकाश कड़ा का अपने लेख में चित्रकला को कौशल के घेरे से बाहर निकालकर बच्चे की अपने परिवेश के प्रति सचेत प्रतिक्रिया के तौर पर रखते हैं।

समीक्षा में मदन मोहन झा की पुस्तक 'समावेशी शिक्षा-दृष्टिकोण एवं प्रक्रियाएं' ऐसा समावेशी माहौल रचने की बात करता है जहां सभी अपनी स्थितियों के साथ शिक्षा की प्रक्रियाओं से जुड़ने के लिए तैयार होने चाहिए। इस समावेशी माहौल में - स्त्रियां, निरक्षर वयस्क, अल्पसंख्यक समूह, जनजातिय समूह, अनाथ बच्चे, फुटपाथी बच्चे एवं विपदाग्रस्त तथा अभावग्रस्त बच्चे, सभी शामिल हैं। सभी के लिए समान शिक्षायी व्यवस्था की मांग एक जनतांत्रिक समाज की मांग बनकर उभरी है। बाल साहित्य समीक्षा में रुम टू रीड द्वारा बच्चों के लिए प्रकाशित पुस्तकों की समीक्षा है।

और अंत में एक बार फिर, शिक्षा विमर्श को नियमित करने की अनेकानेक पूर्व घोषणाओं एवं प्रयासों के बावजूद हम इसे नियमित निकालने की कोशिश कर रहे हैं। आशा है शीघ्र ही यथा समय प्रकाशित हो पाएगी। ♦